मन-शक्ति, स्वरूप और साधना : एक विश्लेषण

जैन साधना में मन का स्थान

भारतीय दर्शन जीवात्मा के बन्धन और मुक्ति की समस्या की एक विस्तृत व्याख्या है। भारतीय चिन्तकों ने केवल मुक्ति के उपलब्धि के हेतु आचार-मार्ग का उपदेश ही नहीं दिया वरन् उन्होंने यह बताने का भी प्रयास किया कि बन्धन और मुक्ति का मूल कारण क्या है? अपने चिन्तन और अनुभूति के प्रकाश में उन्होंने इस प्रश्न का जो उत्तर पाया वह है— "मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है।" जैन, बौद्ध और हिन्दू दर्शनों में यह तथ्य सर्वसम्मत रूप से ग्राह्य है। जैन दर्शन में बन्ध और मुक्ति की दृष्टि से मन की अपार शक्ति मानी गई है। बन्धन की दृष्टि से वह पौराणिक ब्रह्मास्त्र से भी बढ़कर भयंकर है। कर्म सिद्धान्त का एक विवेचन है कि आत्मा के साथ कर्म-बन्ध की क्या स्थिति है? मात्र काययोग से मोहनीय जैसे कर्म का बन्ध उत्कृष्ट रूप में एक सागर की स्थिति तक का हो सकता है। वचनयोग मिलते ही पच्चीस सागर की स्थिति का उत्कृष्ट बन्ध हो सकता है। प्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिका के मिलने पर पचास सागर का, चक्षु के मिलते ही सौ सागर का और श्रवणेन्द्रिय अर्थात् कान के मिलते ही हजार सागर तक का बन्ध हो सकता है। किन्तु यदि मन मिल गया तो मोहनीयकर्म का बन्ध लाख और करोड़ सागर को भी पार कर सकता है। सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी (करोड़ करोड़) सागरोपम का सर्वोत्कृष्ट मोहनीयकर्म "मन" मिलने पर ही बाँधा जा सकता है।

यह है मन की अपार शक्ति, इसलिए मन को खुला छोड़ने से पहले विचार करना होगा कि कहीं वह आत्मा को किसी गहन गर्त में तो नहीं धकेल रहा है? जैन विचारणा में मन मुक्ति के मार्ग का प्रथम प्रवेश द्वार भी है। वहाँ केवल समनस्क प्राणी ही इस मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं। अमनस्क प्राणियों को तो इस राजमार्ग पर चलने का अधिकार ही प्राप्त नहीं है। सम्यग्दृष्टित्व केवल समनस्क प्राणियों को हो सकता है और वे ही अपनी साधना में मोक्ष-मार्ग की ओर बढ़ने के अधिकारी हो सकते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान् महावीर कहते हैं कि "मन के संयमन से एकाग्रता आती है जिससे ज्ञान (विवेक) प्रकट होता है और उस विवेक से सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है और अज्ञान (मिथ्यात्व) समाप्त हो जाता है।"[१] इस प्रकार अज्ञान का निवर्तन और सत्य दृष्टिकोण की उपलब्धि, जो मुक्ति (निर्वाण) की अनिवार्य शर्त है, बिना मन:शुद्धि के सम्भव ही नहीं है। जैन विचारणा में मन मुक्ति का आवश्यक हेतु है। शुद्ध संयमित मन निर्वाण का हेतु बनता है जबकि अनियन्त्रित मन ही अज्ञान अथवा मिथ्यात्व का कारण होकर प्राणियों के बन्धन का हेतु बनता है। इसी तथ्य को आचार्य हेमचन्द्र ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं, "मन का निरोध हो जाने पर कर्म (बन्ध) में पूरी तरह रुक जाते हैं, क्योंकि कर्म का आस्रव मन् के अधीन है, लेकिन जो पुरुष मन का निरोध नहीं करता है उसके कर्मों (बन्धन) की अभिवृद्धि होती रहती है।"[२]

बौद्धदर्शन में चित्त, विज्ञप्ति आदि मन के पर्यायवाची शब्द हैं। तथागत बुद्ध का कथन है "सभी प्रवृत्तियों का आरम्भ मन से होता है, मन की उनमें प्रधानता है वे प्रवृत्तियाँ मनोमय हैं। जो सदोष मन से आचरण करता है, भाषण करता है उसका दु:ख वैसे ही अनुगमन करता है जैसे— रथ का पहिया घोड़े के पैरों का अनुगमन करता है।[३] किन्तु जो स्वच्छ (शुद्ध) मन से भाषण एवं आचरण करता है उसका सुख वैसे ही अनुगमन करता है जैसे साथ नहीं छोड़ने वाली छाया।"[४] कुमार्ग पर लगा हुआ चित्त सर्वाधिक अहितकारी और सन्मार्ग पर लगा हुआ चित्त सर्वाधिक हितकारी है।[५] अत: जो इसका संयम करेंगे वे मार के बन्धन से मुक्त हो जायेंगे।[६] लंकावतारसूत्र में कहा गया है, "चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है।"[७]

वेदान्त परम्परा में भी सर्वत्र यही दृष्टिकोण मिलता है कि जीवात्मा के बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है। ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् में कहा गया है कि "मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है। उसके विषयासक्त होने पर बन्धन है और उसका निर्विषय होना ही मुक्ति है।"[८] गीता में कहा गया है—"इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही इस वासना के वास स्थान कहे गये हैं[९] और यह वासना इनके द्वारा ही ज्ञान को आवृत्त कर समाप्त हो गई है ऐसे ब्रह्मभूत योगी को ही उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।"[१०]

आचार्य शंकर भी विवेकचूड़ामणि में लिखते हैं कि मन से ही बन्धन की कल्पना होती है और उसी से मोक्ष की। मन ही देहादि विषयों में राग को बाँधता है और फिर विषवत् विषयों में विरसता उत्पन्न कर मुक्त कर देता है। इसीलिए इस जीव के बन्धन और मुक्ति के विधान में मन ही कारण है। रजोगुण से मलिन हुआ मन बन्धन का हेतु होता है तथा रज-तम से रहित शुद्ध सात्विक होने पर मोक्ष का कारण होता है।[११]

यद्यपि उपरोक्त प्रमाण यह तो बता देते हैं कि मन बन्धन और मुक्ति का प्रबलतम एकमात्र कारण है। लेकिन फिर भी यह प्रश्न अभी अनुत्तरित ही रह जाता है कि मन ही को क्यों बन्धन और मुक्ति का कारण माना गया है?

जैन साधना में मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण क्यों?

यदि हम इस प्रश्न का उत्तर जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से खोजने का प्रयास करें, तो हमें ज्ञात होता है कि जैन तत्त्वमीमांसा में जड़ और चेतन ये दो मूल तत्त्व हैं। शेष आस्रव, संवर, बन्ध, मोक्ष और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्जरा तो इन दो मूल तत्त्वों के सम्बन्ध की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। शुद्ध आत्मा तो बन्धन का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं (योग) का अभाव है, दूसरी ओर मनोभाव से पृथक् कायिक और वाचिक कर्म एवं जड़कर्म परमाणु भी बन्धन के कारण नहीं होते हैं। बन्धन के कारण राग, द्वेष, मोह आदि मनोभाव आत्मिक अवश्य माने गये हैं, लेकिन इन्हें आत्मगत इसलिए कहा गया है कि बिना चेतन-सत्ता के ये उत्पन्न नहीं होते हैं। चेतन सत्ता रागादि के उत्पादन का निमित्त कारण अवश्य है लेकिन बिना मन के वह रागादि भाव उत्पन्न नहीं कर सकती। इसीलिए यह कहा गया कि मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है। दूसरे हिन्दू, बौद्ध और जैन आचार दर्शन इस बात में एकमत हैं कि बन्धन का कारण अविद्या (मोह) है। अब प्रश्न यह है कि इस अविद्या का वास स्थान कहाँ है? आत्मा को इसका वास स्थान मानना भ्रान्ति होगी, क्योंकि जैन और वेदांत दोनों परम्पराओं में आत्मा का स्वभाव तो सम्यग्ज्ञान है। मिथ्यात्व, मोह किंवा अविद्या आत्माश्रित हो सकते हैं लेकिन वे आत्मगुण नहीं हैं और इसलिए उन्हें आत्मगत मानना युक्तिसंगत नहीं है। अविद्या को जड़ प्रकृति का गुण मानना भी भ्रान्ति होगी क्योंकि वह ज्ञानाभाव ही नहीं वरन् विपरीत ज्ञान भी है। अत: अविद्या का वासस्थान मन को ही माना जा सकता है, जो जड़ और चैतन्य के संयोग से निर्मित है। अत: उसी में अविद्या निवास करती है उसके निवर्तन पर शुद्ध आत्मदशा में अविद्या की सम्भावना किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती।

मन आत्मा के बन्धन और मुक्ति में किस प्रकार अपना भाग अदा करता है, इसे निम्न रूपक से समझा जा सकता है। मान लीजिए, कर्मावरण से कुंठित शक्ति वाला आत्मा उस आँख के समान है जिसकी देखने की क्षमता क्षीण हो चुकी है। जगत् एक श्वेत वस्तु है और मन ऐनक है। आत्मा को मुक्ति के लिए जगत् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करना है, लेकिन अपनी स्व शक्ति के कुंठित होने पर वह स्वयं तो सीधे रूप में यथार्थ ज्ञान नहीं पा सकता। उसे मन रूपी चश्मे की सहायता आवश्यक होती है, लेकिन यदि ऐनक रंगीन काँचों का हो तो वह वस्तु का यथार्थ ज्ञान न देकर भ्रांत ज्ञान ही देता है। इसी प्रकार यदि मन रागद्वेषादि वृत्तियों से दूषित (रंगीन) है तो वह यथार्थ ज्ञान नहीं देता और हमारे बन्धन का कारण बनता है। लेकिन यदि मन रूपी ऐनक निर्मल है तो वह वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान देकर हमें मुक्त बना देता है। जिस प्रकार ऐनक में बिना किसी चेतन आँख के संयोग के देखने की कोई शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार जड़ मन-परमाणुओं में भी बिना किसी चेतन आत्मा के संयोग के बन्धन और मुक्ति की कोई शक्ति नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि जिस प्रकार ऐनक से देखने वाले नेत्र हैं लेकिन विकास या रंगीनता का कार्य ऐनक में है, उसी प्रकार बन्धन के कारण रागद्वेषादि विकार न तो आत्मा के कार्य हैं और न जड़ तत्त्व के कार्य हैं, वरन् मन के ही कार्य हैं।

जैन विचारणा के समान गीता में भी यह कहा गया है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस "काम" के वास स्थान हैं। इनके आश्रयभूत होकर ही यह काम ज्ञान को आच्छादित कर जीवात्मा को मोहित किया करता है।[१२] ज्ञान आत्मा का कार्य है लेकिन ज्ञान में जो विकार आता है वह आत्मा का कार्य न होकर मन का कार्य है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए जहाँ गीता में विकार या काम का वास स्थान मन को माना गया है वहीं जैन विचारणा में विकार या कामादि का वासस्थान आत्मा को ही माना गया है। वे मन के कार्य अवश्य हैं लेकिन उनका वास स्थान आत्मा ही है। जैसे रंगीन देखना चश्मे का कार्य है, लेकिन रंगीनता का ज्ञान तो चेतना में ही होता है।

सम्भवत: यहाँ शंका हो सकती है कि जैन विचारणा में तो अनेक बद्ध प्राणियों को अमनस्क माना गया है, फिर उनमें जो अविद्या या मिथ्यात्व है वह किसका कार्य है? इसका उत्तर यह है कि जैन विचारणा के अनुसार प्रथम तो सभी प्राणियों में भाव मन की सत्ता स्वीकार की गई है। दूसरे श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप यदि मन को सम्पूर्ण शरीरगत मानें[१३] तो वहाँ द्रव्य मन भी है, लेकिन वह केवल ओघसंज्ञा है। दूसरे शब्दों में, उन्हें केवल विवेकशक्ति-विहीन मन (irrational mind) प्राप्त है। जैन शास्त्रों में जो समनस्क और अमनस्क प्राणियों का भेद किया गया है वह दूसरी विवेकसंज्ञा (Faculty of reasoning) की अपेक्षा से है। जिन्हें शास्त्र में समनस्क प्राणी कहा गया है उनसे तात्पर्य विवेक शक्ति युक्त प्राणियों से है। जो अमनस्क प्राणी कहे गये हैं उनमें विवेकक्षमता नहीं होती है। वे न तो सुदीर्धभूत की स्मृति रख सकते हैं, न भविष्य की और न शुभाशुभ का विचार कर सकते हैं। उनमें मात्र वर्तमानकालिक संज्ञा होती है और मात्र अंध वासनाओं (मूल प्रवृत्तियों) से उनका व्यवहार चालित होता है। अमनस्क प्राणियों में सत्तात्मक मन तो है, लेकिन उनमें शुभाशुभ का विवेक नहीं होता है, इसी विवेकाभाव की अपेक्षा से ही उन्हें अमनस्क कहा जाता है।

जैन विचारणा के अनुसार नैतिक विकास का प्रारम्भ विवेक क्षमतायुक्त मन की उपलब्धि से ही होता है— जब तक विवेक-क्षमतायुक्त मन प्राप्त नहीं होता है तब तक शुभाशुभ का विभेद नहीं किया जा सकता और जब तक शुभाशुभ का ज्ञान प्राप्त नहीं होता है तब तक नैतिक विकास की सही दिशा का निर्धारण और नैतिक प्रगति नहीं हो पाती है। अत: विवेक-क्षमतायुक्त (Rational mind) नैतिक प्रगति की अनिवार्य शर्त है। ब्रेडले, प्रभृति आदि पाश्चात्य विचारकों ने भी बौद्धिक क्षमता या शुभाशुभ विवेक को नैतिक प्रगति के लिए आवश्यक माना है। फिर भी जैन विचारणा का उनसे प्रमुख मतभेद यह है कि वे नैतिक उत्तरदायित्व (Moral responsibility) और नैतिक प्रगति (Moral progress) दोनों के लिए विवेक-क्षमता को आवश्यक मानते हैं, जबकि जैन विचारक नैतिक प्रगति के लिए तो विवेक आवश्यक मानते हैं लेकिन नैतिक उत्तरदायित्व के लिए विवेकशक्ति को आवश्यक नहीं मानते हैं। यदि कोई प्राणी विवेकाभाव में भी अनैतिक कर्म करता है तो जैन दृष्टि से वह नैतिक रूप से उत्तरदायी होगा, क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथमत:, विवेकाभाव ही प्रमत्तता है और यही अनैतिकता का कारण है। अत: विवेकपूर्वक कार्य नहीं करने वाला नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं है। दूसरे, विवेकशक्ति तो सभी चेतन आत्माओं में है। जिसमें वह प्रसुप्त है, उस प्रसुप्ति के लिए भी वह स्वयं ही उत्तरादायी है। तीसरे अनेक प्राणी तो ऐसे हैं जिनमें विवेक का प्रकटन हो चुका था, (जो कभी समनस्क या विवेकवान प्राणी थे) लेकिन उन्होने उस विवेकशक्ति का यथार्थ उपयोग नहीं किया। फलस्वरूप उनमें वह विवेकशक्ति पुन: कुण्ठित हो गई। अत: ऐसे प्राणियों को नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं माना जा सकता।

सूत्रकृतांगसूत्र में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख मिलता है— कई जीव ऐसे भी हैं, जिनमें जरा-सी तर्कशक्ति, प्रज्ञाशक्ति, मन या वाणी की शक्ति नहीं होती है। वे मूढ़ जीव भी सबके प्रति समान दोषी हैं और उसका कारण यह है कि सब योनियों के जीव एक जन्म में संज्ञा (विवेक) वाले होकर अपने किये हुए कर्मों के कारण दूसरे जन्म में असंज्ञी (विवेकशून्य) बनकर जन्म लेते हैं। अतएव विवेकवान होना या न होना अपने ही किये हुए कर्मों का फल होता है, इससे विवेकाभाव की दशा में जो कुछ पाप-कर्म होते हैं उनकी जवाबदारी भी उनकी ही होती है।

यद्यपि जैन तत्त्वज्ञान में जीवों के अव्यवहार-राशि की जो कल्पना की गई है, उस वर्ग के जीवों के नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या सूत्रकृतांगसूत्र के इस आधार पर नहीं हो सकती, क्योंकि अव्यवहार-राशि के जीवों को तो विवेक कभी प्रकटित ही नहीं हुआ। वे तो केवल इस आधार पर ही उत्तरदायी माने जा सकते हैं कि उनमें जो विवेकक्षमता प्रसुप्त है वे उसका प्रकटन नहीं कर रहे हैं।

एक प्रश्न यह भी है कि यदि नैतिक प्रगति के लिए "सविवेक मन" आवश्यक है तो फिर जैन विचारणा के अनुसार वे सभी प्राणी जिनमें ऐसे "मन" का अभाव है, नैतिक प्रगति के पथ पर कभी आगे नहीं बढ़ सकेंगे। जैन विचारणा के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि "विवेक" के अभाव में भी कर्म का बन्ध और भोग तो चलता है, लेकिन फिर भी जब विचारक-मन का अभाव होता है तो कर्म वासना-संकल्प से युक्त होते हुए भी वैचारिक संकल्प से युक्त नहीं होते हैं और कर्मों के वैचारिक संकल्प से युक्त नहीं होने के कारण बन्धन में तीव्रता भी नहीं होती है। इस प्रकार नवीन कर्मों का बन्ध होते हुए भी तीव्र बन्ध नहीं होता है और पुराने कर्मों का भोग चलता रहता है। अत: नदी-पाषाण न्याय के अनुसार संयोग से कभी न कभी वह अवसर आ जाता है, जब प्राणी विवेक को प्राप्त कर लेता है और नैतिक विकास की ओर अग्रसर होने लगता है।

मन का स्वरूप

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन आचार दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों की परम्परायें मन को नैतिक जीवन के सन्दर्भ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती हैं। अत: यह स्वाभाविक है कि मन का स्वरूप क्या है और वह नैतिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करता है, इस तथ्य पर भी विचार करें।

मन के स्वरूप के विश्लेषण की प्रमुख समस्या यह है कि क्या मन भौतिक तत्त्व है अथवा आध्यात्मिक तत्त्व? बौद्ध विचारणा मन को चेतन तत्त्व मानती है जबकि सांख्य दर्शन और योगवासिष्ठ में उसे जड़ माना गया है।[१४] गीता सांख्य विचारणा के अनुरूप मन को जड़ प्रकृति से ही उत्पन्न और त्रिगुणात्मक मानती है।[१५]

जैन विचारणा में मन के भौतिक पक्ष को "द्रव्यमन" और चेतन पक्ष को "भावमन" कहा गया है।[१६] विशेषावश्यकभाष्य में बताया गया है कि द्रव्यमन मनोवर्गणा नामक परमाणुओं से बना हुआ है। यह मन का भौतिक पक्ष (Physical or structural aspect of mind) है। साधारण रूप से इसमें शरीरस्थ सभी ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक अंग आ जाते हैं। मनोवर्गणा के परमाणुओं से निर्मित उस भौतिक रचना-तन्त्र में प्रवाहित होने वाली चैतन्यधारा भाव मन है। दूसरे शब्दों में, इस रचना-तन्त्र को आत्मा से मिली हुई चिन्तन-मनरूप चैतन्य शक्ति ही भाव मन (Psychical aspect of mind) है।

यहाँ पर एक विचारणीय प्रश्न यह भी उठता है कि द्रव्यमन और भावमन शरीर के किस भाग में स्थित हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ गोम्मटसार के जीवकाण्ड में द्रव्यमन का स्थान हृदय माना गया है, जबकि श्वेताम्बर आगमों में ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है कि मन शरीर के किस विशेष भाग में स्थित है। पं० सुखलाल जी अपने गवेषणापूर्ण अध्ययन के आधार पर यह मानते हैं कि "श्वेताम्बर परम्परा का समग्र स्थूल शरीर ही द्रव्यमन का स्थान इष्ट है।" जहाँ तक भावमन के स्थान का प्रश्न है, उसका स्थान आत्मा ही है। क्योंकि आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। अत: भावमन का स्थान भी सम्पूर्ण शरीर ही सिद्ध होता है।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो बौद्ध दर्शन में मन को हृदयप्रदेशवर्ती माना गया है, जो दिगम्बर सम्प्रदाय की द्रव्यमन सम्बन्धी मान्यता के निकट आता है। जबकि सांख्य परम्परा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के निकट है। पं० सुखलाल जी लिखते हैं कि सांख्य आदि दर्शनों की परम्परा के अनुसार मन का स्थान केवल हृदय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस परम्परा के अनुसार मन सूक्ष्मलिंग शरीर में, जो अष्टादश तत्त्वों का विशिष्ट निकायरूप है, प्रविष्ट है और सूक्ष्म शरीर का स्थान समस्त स्थूल शरीर ही मानना उचित जान पड़ता है। अतएव उस परम्परा के अनुसार मन का स्थान समग्र स्थूल शरीर ही सिद्ध होता है।

जैन विचारणा मन के आध्यात्मिक और भौतिक दोनों स्वरूपों को स्वीकार करके ही संतोष नहीं मान लेती वरन् इन भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों के बीच गहन सम्बन्ध को भी स्वीकार कर लेती है। जैन नैतिक विचारणा में बन्धन के लिए अमूर्त चेतन आत्मतत्त्व और जड़ कर्मतत्त्व का जो सम्बन्ध स्वीकार किया गया है, उसकी व्याख्या के लिए उसे मन के स्वरूप का यही सिद्धान्त अभिप्रेत हो सकता है। अन्यथा जैन विचारणा की बन्धन और मुक्ति की व्याख्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही असम्भव होगी। वेदान्तिक अद्वैतवाद, बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के दर्शनों में बन्धन का कारण अन्य तत्त्व को नहीं माना जाता। अत: वहां सम्बन्ध की समस्या ही नहीं आती। सांख्य दर्शन में आत्मा को कूटस्थ मानने के कारण वहां भी पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध की कोई समस्या नहीं रहती। इसलिए वे मन को एकांत जड़ अथवा चेतन मानकर अपना काम चला लेते हैं। लेकिन जड़ और चेतन के मध्य सम्बन्ध मानने के कारण जैन दर्शन के लिए मन को उभयरूप मानना आवश्यक है। जैन विचारणा में मन अपने उभयात्मक स्वरूप के कारण ही जड़ कर्मवर्गणा के पुद्गल और चेतन आत्म-तत्त्व के मध्य योजक कड़ी बन गया है। मन की शक्ति चेतना में है और उसका कार्य-क्षेत्र भौतिक जगत् है। जड़ पक्ष की ओर से वह भौतिक पदार्थों से प्रभावित होता है और अपने चेतन-पक्ष की ओर से आत्मा को प्रभावित करता है। इस प्रकार जैन दार्शनिक मन के द्वारा आत्मतत्त्व और जड़तत्त्व के मध्य अपरोक्ष सम्बन्ध बना देते हैं तथा इस सम्बन्ध के आधार पर ही अपनी बन्धन की धारणा को सिद्ध करते हैं। मन, जड़ जगत् और चेतन जगत् के मध्य अवस्थित एक ऐसा माध्यम है, जो दोनों स्वतन्त्र सत्ताओं में सम्बन्ध बनाये रखता है, जब तक यह माध्यम रहता है तभी तक जड़ एवं चेतन जगत् में पारस्परिक प्रभावकता रहती है, जिसके कारण बन्धन का क्रम चलता रहता है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए पहले मन के इन उभय पक्षों को अलग-अलग करना होता है। इनके अलग-अलग होने पर मन की प्रभावक शक्ति क्षीण होने लगती है और अन्त में मन का ही विलय होकर निर्वाण की उपलब्धि हो जाती है। निर्वाण दशा में इस उभय स्वरूप मन का ही अभाव होने से बन्धन की सम्भावना नहीं रहती।

उभयात्मक मन के माध्यम से जड़ और चेतन में पारस्परिक प्रभावकता (Interaction) मान लेने मात्र से समस्या का पूर्ण समाधान नहीं होता। प्रश्न यह है कि बाह्य भौतिक घटनायें एवं क्रियायें आत्मतत्त्व को कैसे प्रभावित करती हैं, जबकि दोनों स्वतन्त्र हैं यदि उभयरूप मन को उनका योजक तत्त्व मान भी लिया जाय तो इससे समस्या का निराकरण नहीं होता। यह तो समस्या को टालना मात्र है। जो सम्बन्ध की समस्या भौतिक जगत् और आत्मतत्त्व के मध्य थी, उसे केवल द्रव्यमन और भावमन के नाम से मनोजगत् में स्थानान्तरित कर दिया गया है। द्रव्यमन और भावमन कैसे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं यह समस्या अभी बनी हुई है। चाहे यह सम्बन्ध की समस्या भौतिक और आध्यात्मिक स्तर पर हो, चाहे जड़-कर्म-परमाणु और चेतन आत्मा के मध्य हो अथवा मन के भौतिक और अभौतिक स्तरों पर हो, समस्या अवश्य बनी रहती है। उसके निराकरण के दो ही मार्ग हैं— या तो भौतिक और आध्यात्मिक संज्ञाओं में से किसी एक के अस्तित्व का निषेध कर दिया जाए अथवा उनमें एक प्रकार का समानान्तरवाद मान लिया जाए। जैन दार्शनिकों ने पहले विकल्प में यह दोष पाया कि यदि केवल चेतनतत्त्व की सत्ता मानी जाए तो समस्त भौतिक जगत् को मिथ्या कहकर अनुभूति के तथ्यों को छुटकरा देना होगा, जैसा कि विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्ध दार्शनिकों तथा अद्वैतवादी आचार्य शंकर ने किया। यदि दूसरी ओर चेतन की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध कर मात्र जड़तत्त्व की सत्ता को ही माना जाये तो भौतिकवाद में आना होगा, जिसमें नैतिक जीवन के लिए कोई स्थान शेष नहीं रहेगा। डॉ० राधाकृष्णन् लिखते हैं— "जैन दार्शनिकों ने मन और शरीर का द्वैत स्वीकार किया, इसलिए वे समानान्तरवाद को भी उसकी समस्त सीमाओं सहित स्वीकार कर लेते हैं। वे चैतसिक और अचैतसिक तथ्यों में एक पूर्व संस्थापित सामजस्य (Pre-established harmony) स्वीकार करते हैं।"[१७] लेकिन जैन विचारणा द्रव्यमन और भावमन के मध्य केवल समानान्तरवाद या पूर्व संस्थापित सामंजस्य ही नहीं मानती है, अपितु व्यावहारिक दृष्टि से तो जैन विचारक उनमें वास्तविक सम्बन्ध भी मानते हैं। समानान्तरवाद या पूर्व संस्थापित सामंजस्य तो केवल पारमार्थिक या द्रव्यार्थिक दृष्टि से स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जैन दार्शनिक तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में जड़ और चेतन में नितान्त भिन्नता मानते हुए भी अनुभव के स्तर पर या मनोवैज्ञानिक स्तर पर उनमें वास्तविक सम्बन्ध को स्वीकार कर लेते हैं। डॉ० कलघटगी लिखते हैं कि "जैन चिन्तकों ने मानसिक भावों को जड़ कर्मों से प्रभावित होने के सन्दर्भ में एक परिष्कारित समानान्तरवाद प्रस्तुत किया है— उनका समानान्तरवाद व्यक्ति के मन और शरीर के सम्बन्ध में एक प्रकार का मनोभौतिक समानान्तरवाद है— यद्यपि वे मानसिक और शारीरिक तथ्यों के मध्य होने वाली पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की धारणा को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करते हैं— जैन दृष्टिकोण जड़ और चेतन के मध्य रहे हुए तात्त्विक विरोध के समन्वय का एक प्रयास है, जो वैयक्तिक मन एवं शरीर के मध्य पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की धारणा की संस्थापना करता हैं।[१८]

इस प्रकार हमने यह देखा कि जैन विचारणा में बाह्य भौतिक जगत् से सम्बन्धित मन का द्रव्यात्मक पक्ष किस प्रकार अपने भावात्मक पक्ष को प्रभावित करता है और जीवात्मा को बन्धन में डालता है। लेकिन मन जिन साधनों के द्वारा बाह्य जगत् से सम्बन्ध बनाता है वे तो इन्द्रियाँ हैं, मन की विषय-सामग्री तो इन्द्रियों के माध्यम से आती है। बाह्य जगत् से मन का सीधा सम्बन्ध नहीं होता है वरन् वह इन्द्रियों के माध्यम से जागतिक विषयों से अपना सम्बन्ध बनाता है। मन जिस पर कार्य करता है वह सारी सामग्री तो इन्द्रिय-संवेदन से प्राप्त होती है। अत: मन के कार्य के सम्बन्ध में विचार करने से पहले हमें इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी थोड़ा विचार कर लेना होगा।

मन के साधन-इन्द्रियाँ

इन्द्रिय शब्द के अर्थ की विशद विवेचना न करते हुए यहाँ हम केवल यही कहें कि "जिन-जिन कारणों की सहायता से जीवात्मा विषयों की ओर अभिमुख होता है अथवा विषयों के उपभोग में समर्थ होता है वे इन्द्रियाँ हैं।" इस अर्थ को लेकर गीता या जैन आगमों में कहीं कोई विवाद नहीं पाया जाता। यद्यपि कुछ विचारकों की दृष्टि में इन्द्रियाँ "मन" का साधन या "कारण" मानी जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियों की संख्या

जैन दृष्टि में इन्द्रियाँ पाँच मानी जाती हैं— (१) श्रोत्र, (२) चक्षु, (३) घ्राण, (४) रसना और (५) स्पर्शन्। सांख्य विचारणा में इन्द्रियों की संख्या ११ मानी गई है—५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और १ मन। जैन विचारणा में ५ ज्ञानेन्द्रियाँ तो उसी रूप में मानी गई है किन्तु मन को नोइन्द्रिय (Quasi sense-organ) कहा गया है। पाँच कर्मेन्द्रियों की तुलना उनकी १० बल की धारणा में वाक्बल, शरीरबल एवं श्वासोच्छ्वास बल से की जा सकती है।[१९] बौद्ध विसुद्धिमग्गो में इन्द्रियों की संख्या २२ मानी गई है।[२०] बौद्ध विचारणा में उक्त पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त पुरुषत्व, स्त्रीत्व, सुख-दुःख तथा शुभ एवं अशुभ आदि को भी इन्द्रिय माना गया है। जैन दर्शन में इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं— (१) द्रव्येन्द्रिय (२) भावेन्द्रिय। इन्द्रियों की आंगिक संरचना (Structural aspect) द्रव्येन्द्रिय कहलाती हैं और आन्तरिक क्रियाशक्ति (Functional aspect) भावेन्द्रिय कहलाती है। इनमें से प्रत्येक के पुनः उप-विभाग किये गये हैं, जिन्हें संक्षेप में निम्न सारिणी से समझा जा सकता है :—

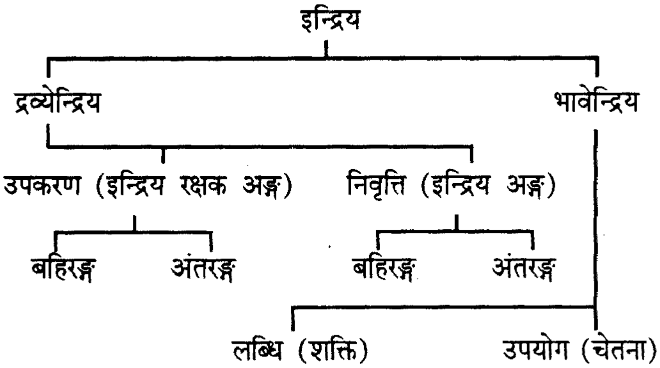

इन्द्रियों के व्यापार या विषय

(१) श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द तीन प्रकार का माना गया है— जीव का शब्द, अजीव का शब्द और मिश्र शब्द। कुछ विचारक सात प्रकार के शब्द मानते हैं। (२) चक्षुरिन्द्रिय का विषय रंग-रूप है। रंग काला, नीला, पीला, लाल और श्वेत, पाँच प्रकार के हैं। शेष रंग इन्हीं के सम्मिश्रण के परिणाम हैं। (३) घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है। गन्ध दो प्रकार की होती है— सुगन्ध और दुर्गन्ध। (४) रसना का विषय रसास्वादन है। रस पाँच प्रकार के होते हैं— कटु, अम्ल, लवण, तिक्त और कषाय। (५) स्पर्शेन्द्रिय का विषय स्पर्शानुभूति है। स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं— उष्ण, शीत, रूक्ष, चिकना, हल्का, भारी, कर्कश और कोमल। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के ३, चक्षुरिन्द्रिय के ५, घ्राणेन्द्रिय के २, रसनेन्द्रिय के ५ और स्पर्शेन्द्रिय के ८, कुल मिलाकर पाँचों इन्द्रियों के २३ विषय होते हैं।

जैन विचारणा में सामान्य रूप से यह माना गया है कि पाँचों इन्द्रियों के द्वारा जीव उपरोक्त विषयों का सेवन करता है। गीता में कहा गया है यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन के आश्रय से ही विषयों का सेवन करता है।[२१]

ये विषय-भोग आत्मा को बाह्यमुखी बना देते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयों की ओर आकर्षित होती है और इस प्रकार आत्मा का आन्तरिक समत्व भंग हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि "साधक शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श इन पाँचों प्रकार के कामगुणों (इन्द्रिय-विषयों) को सदा के लिए छोड़ दे,[२२] क्योंकि ये इन्द्रियों के विषय आत्मा में विकार उत्पन्न करते हैं।

इन्द्रियाँ अपने विषयों से किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करती हैं और आत्मा को उन विषयों से कैसे प्रभावित करती हैं, इसकी विस्तृत व्याख्या प्रज्ञापनासूत्र और अन्य जैन ग्रन्थों में मिलती है। विस्तार भय से हम इस विवेचना में जाना नहीं चाहते हैं। हमारे लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि जिस प्रकार द्रव्यमन भावमन को प्रभावित करता है और भावमन से आत्मा प्रभावित होती है, उसी प्रकार द्रव्येन्द्रिय (Structural aspect of sense organ) का विषय से सम्पर्क होता है और वह भावेन्द्रिय (Functional and Psychic aspect of sence organ) को प्रभावित करती है और भावेन्द्रिय (आत्मा की शक्ति होने के कारण) से आत्मा प्रभावित होती है। नैतिक चेतना की दृष्टि से मन और इन्द्रियों के महत्त्व तथा स्वरूप के सम्बन्ध में यथेष्ट रूप से विचार कर लेने के पश्चात् यह जान लेना उचित होगा कि मन और इन्द्रियों का ऐसा कौन सा महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसके कारण उन्हें नैतिक चेतना में इतना स्थान दिया जाता है।

वासना प्राणीय व्यवहार का प्रेरक तत्त्व

मन और इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क से कामना उत्पन्न होती है। यही कामना या इच्छा नैतिकता की परिसीमा में आने वाले व्यवहार का आधारभूत प्रेरक तत्त्व है। सभी भारतीय आचार दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि वासना, कामना या इच्छा से प्रसूत समस्त व्यवहार ही नैतिक विवेचना का विषय है। स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों में वासना, कामना, कामगुण, इच्छा, आशा, लोभ, तृष्णा, आसक्ति आदि शब्द लगभग समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिनका सामान्य अर्थ मन और इन्द्रियों की अपने विषयों की "चाह" से है। बन्धन का कारण इन्द्रियों का उनके विषयों से होने वाले सम्पर्क या सहज शारीरिक क्रियाएँ नहीं हैं, वरन् वासना है। नियमसार में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सामान्य व्यक्ति का उठना-बैठना, चलना-फिरना, देखना-जानना आदि क्रियाएँ वासना से युक्त होने के कारण बन्धन का कारण है जबकि केवली (सर्वज्ञ या जीवनमुक्त) की ये सभी क्रियाएँ वासना या इच्छारहित होने के कारण बन्धन का कारण नहीं होतीं। इच्छा या संकल्प (परिणाम) पूर्वक किए हुए वचन आदि कार्य ही बन्धन के कारण होते हैं। इच्छारहित कार्य बन्धन के कारण नहीं होते।[२३]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जैन आचार दर्शन में वासनात्मक तथा ऐच्छिक व्यवहार ही नैतिक निर्णय का प्रमुख आधार है। जैन नैतिक विवेचना की दृष्टि से वासना (इच्छा) को ही समग्र जीवन के व्यवहार क्षेत्र का चालक तत्त्व कहा जा सकता है। पाश्चात्य आचार

दर्शन में जीववृत्ति (Want), क्षुधा (Appetite), इच्छा (Desire), अभिलाषा (Wish) और संकल्प (will) में अर्थ वैभिन्य एवं क्रम माना गया है। उनके अनुसार इस समग्र क्रम में चेतना की स्पष्टता के आधार पर विभेद किया जा सकता है। जीववृत्ति चेतना के निम्नतम स्तर वनस्पति जगत् में पायी जाती है। पशुजगत् में जीववृत्ति के साथ-साथ क्षुधा का भी योग होता है, लेकिन चेतना के मानवीय स्तर पर आकर तो जीववृत्ति से संकल्प तक के सारे ही तत्त्व उपलब्ध होते हैं। वस्तुत: जीववृत्ति से लेकर संकल्प तक के सारे स्तरों में वासना के मूलतत्त्व में मूलत: कोई अन्तर नहीं है, अन्तर है, केवल चेतना में उसके बोध का। दूसरे शब्दों में, इनमें मात्रात्मक अन्तर है, गुणात्मक अन्तर नहीं है। यही कारण है भारतीय दर्शन में इस क्रम के सम्बन्ध में कोई विवेचना उपलब्ध नहीं होती है। भारतीय साहित्य में वासना, कामना, इच्छा और तृष्णा आदि शब्द तो अवश्य मिलते हैं और वासना की तीव्रता की दृष्टि से इनमें अन्तर भी किया जा सकता है, फिर भी सामान्य रूप से समानार्थक रूप में ही उनका प्रयोग हुआ है। भारतीय दर्शन की दृष्टि से वासना को जीववृत्ति (Want) तथा क्षुधा (Appetite), कामना को इच्छा (Desire), इच्छा को अभिलाषा (Desire), और तृष्णा को संकल्प (Will) कहा जा सकता है। पाश्चात्य विचारक जहाँ वासना के केवल उस रूप को, जिसे हम संकल्प (Will) कहते हैं, नैतिक निर्माण का विषय बनाते हैं, वहीं भारतीय चिन्तन में वासना के वे रूप भी जिनमें वासना की चेतना का स्पष्ट बोध नहीं है, नैतिकता की परिसीमा में आ जाते हैं।

चाहे वासना के रूप में अन्ध ऐन्द्रिक अभिवृत्ति हो या मन का विमर्शात्मक संकल्प हो, दोनों के ही मूल में वासना का तत्त्व निहित है और यही वासना प्राणीय व्यवहार की मूलभूत प्रेरक है। व्यवहार की दृष्टि से वासना (जीववृत्ति) और तृष्णा (संकल्प) में अन्तर यह है कि पहली स्पष्ट रूप से चेतना के स्तर पर नहीं होने के कारण मात्र अन्धप्रवृत्ति होती है जबकि दूसरी चेतना के स्तर पर होने के कारण विमर्शात्मक होती है। चेतना में इच्छा के स्पष्ट बोध का अभाव इच्छा का अभाव नहीं है। इसीलिये जैन और बौद्ध विचारणा ने पशु आदि चेतना के निम्न स्तरों वाले प्राणियों के व्यवहार को भी नैतिकता की परिसीमा में माना है। वहां पाशविक स्तर पर पायी जाने वाली वासना की अन्ध प्रवृत्ति ही नैतिक निर्णयों का विषय बनती है।

वासना क्यों होती है?

गणधरवाद में कहा गया है कि जिस प्रकार देवदत्त अपने महल की खिड़कियों से बाह्य जगत् को देखता है, उसी प्रकार प्राणी इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य पदार्थों से अपना सम्पर्क बनाता है।[२४] कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया गया है इसलिए जीव बाह्य विषयों की ओर ही देखता है अन्तरात्मा को नहीं।[२५]

इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होने पर कुछ विषय अनुकूल और कुछ विषय प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। अनुकूल विषयों की ओर पुन:-पुन: प्रवृत्त होना और प्रतिकूल विषयों से बचना यही वासना है। जो इन्द्रियों के अनुकूल होता है वही सुखद और जो प्रतिकूल होता है वही दु:खद है।[२६] अत: सुखद की ओर प्रवृत्ति करना और दु:खद से निवृत्ति चाहना, यही वासना की चालना के दो केन्द्र हैं, जिनमें सुखद विषय धनात्मक तथा दु:खद विषय ऋणात्मक चालना के केन्द्र हैं। इस प्रकार वासना, तृष्णा या कामगुण ही समस्त व्यवहार का प्रेरक तत्त्व है। भारतीय चिन्तन में व्यवहार के प्रेरक के रूप में जिस वासना को स्वीकारा गया है, वही वासना पाश्चात्य फ्रायडीय मनोविज्ञान में "काम" और मेकोगल के प्रयोजनवादी मनोविज्ञान में हार्मी (Harme) या अर्ज (Urge) अथवा मूलप्रवृत्ति कही जाती है। पाश्चात्य और भारतीय परम्पराएँ इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि प्राणीय व्यवहार का प्रेरक तत्त्व वासना, कामना या तृष्णा है। इनके दो रूप बनते हैं— राग और द्वेष। राग धनात्मक और द्वेष ऋणात्मक है। आधुनिक मनोविज्ञान में कर्ट लेविन ने इन्हें क्रमश: आकर्षण शक्ति (positive valence) और विकर्षण शक्ति (negative valence) कहा है।

व्यवहार की चालना के दो केन्द्र—सुख और दु:ख

अनुकूल विषय की ओर आकर्षित होना और प्रतिकूल विषयों से विकर्षित होना— यह इन्द्रिय स्वभाव है, लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इन्द्रियाँ क्यों अनुकूल विषयों में प्रवृत्ति और प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति रखना चाहती हैं। यदि इसका उत्तर मनोविज्ञान के आधार पर देने का प्रयास किया जाए तो हमें मात्र यही कहना होगा कि अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति और प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति एक नैसर्गिक तथ्य है, जिसे हम सुख-दु:ख का नियम भी कहते हैं। मनोविज्ञान प्राणी जगत् की इस नैसर्गिक वृत्ति का विश्लेषण तो करता है, लेकिन यह नहीं बता सकता है कि ऐसा क्यों है?

यही सुख-दु:ख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक तत्त्व है। जैन दार्शनिक भी प्राणीय व्यवहार के चालक तत्त्व के रूप में इसी सुख-दु:ख के नियम को स्वीकार करते हैं। मन एवं इन्द्रियों के माध्यम से इसी नियम के अनुसार प्राणीय व्यवहार का संचालन होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वासना ही अपने विधेयात्मक रूप में सुख और निषेधात्मक रूप में दु:ख का रूप ले लेती है। जिससे वासना की पूर्ति हो वही सुख और जिससे वासना की पूर्ति न हो अथवा वासना-पूर्ति में बाधा उत्पन्न हो वह दु:ख है। इस प्रकार वासना से ही सुख-दु:ख के भाव उत्पन्न होकर प्राणीय व्यवहार का निर्धारण करने लगते हैं।

अपने अनुकूल विषयों की ओर आकृष्ट होना और उन्हें ग्रहण करना, यह इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मन के अभाव में यह इन्द्रियों की अन्धप्रवृत्ति होती है, लेकिन जब इन्द्रियों के साथ मन का योग हो जाता है तो इन्द्रियों में सुखद अनुभूतियों की पुन:-पुन: प्राप्ति की तथा दु:खद अनुभूति से बचने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बस यहीं इच्छा, तृष्णा या संकल्प का जन्म होता है। जैनाचार्यों ने इच्छा की परिभाषा करते हुए लिखा है— मन और इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की पुन: प्राप्ति की प्रवृत्ति ही इच्छा है,[२७] अथवा इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति की अभिलाषा का अतिरेक ही इच्छा है।[२८] यह इन्द्रियों की सुखद अनुभूति को पुनः-पुनः प्राप्त करने की लालसा या इच्छा ही तीव्र होकर आसक्ति या राग का रूप ले लेती है। दूसरी ओर दुःखद अनुभूतियों से बचने की अभिवृत्ति घृणा एवं द्वेष का रूप ले लेती है। भगवान महावीर ने कहा है— "मनोज्ञ, प्रिय या अनुकूल विषय ही राग का कारण होते हैं और प्रतिकूल या अमनोज्ञ विषय द्वेष का कारण होते हैं।[२९]

सुखद अनुभूतियों से राग और दुःखद अनुभूतियों से द्वेष तथा इस राग-द्वेष से अन्यान्य कषाय और अशुभ वृत्तियाँ कैसे प्रतिफलित होती हैं, इसे उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इन्द्रिय और मन में उनके विषयों को सेवन करने की लालसा जागृत होती है। सुखद अनुभूति को पुनः-पुनः प्राप्त करने की इच्छा और दुःख से बचने की इच्छा से ही राग या आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्ति से प्राणी मोह या जड़ता के समुद्र में डूब जाता है। कामगुण (इन्द्रियों के विषयों) में आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्ति से प्राणी मोह या जड़ता के समुद्र में डूब जाता है। कामगुण (इन्द्रियों के विषयों) में आसक्त होकर जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, घृणा, हास्य, भय, शोक तथा स्त्री, पुरुष और नपुसंक भाव की वासनाएँ आदि अनेक प्रकार के शुभाशुभ भावों को उत्पन्न करता है और उन भावों की पूर्ति के प्रयास में अनेक रूपों (शरीरों) को धारण करता है।

इस प्रकार इन्द्रियों और मन के विषयों में आसक्त प्राणी जन्म-मरण के चक्र में फँसकर विषयासक्ति से अवश, दीप, लज्जित और करुणाजनक स्थिति को प्राप्त हो जाता है।[३०]

गीता में भी यही दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि "मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किए जाने पर उन विषयों से सम्पर्क की इच्छा उत्पन्न होती है और उस सम्पर्क इच्छा से कामना या आसक्ति का जन्म होता है। आसक्त विषयों की प्राप्ति में जब बाधा उत्पन्न होती है तो क्रोध (घृणा, द्वेष) उत्पन्न हो जाता है। क्रोध में मूढ़ता या अविवेक, अविवेक से स्मृतिनाश और स्मृतिनाश से बुद्धि विनष्ट हो जाती है तथा बुद्धि के विनष्ट होने से व्यक्ति विनाश की ओर चला जाता है।[३१]

इस प्रकार हम देखते है कि जब इन्द्रियों का अनुकूल या सुखद विषयों से सम्पर्क होता है तो उन विषयों में आसक्ति तथा राग के भाव जागृत होते हैं और जब इन्द्रियों का प्रतिकूल या दुःखद विषयों से संयोग होता है अथवा अनुकूल विषयों की प्राप्ति में कोई बाधा आती है तो घृणा या विद्वेष के भाव जागृत होते हैं। इस प्रकार सुख-दुःख का प्रेरक नियम एक दूसरे रूप में बदल जाता है, जहाँ सुख का स्थान राग या आसक्ति का भाव ले लेता है और दुःख का स्थान घृणा या द्वेष का भाव ले लेता है। ये राग-द्वेष की वृत्तियाँ ही व्यक्ति के नैतिक अधःपतन एवं जन्म-मरण की परम्परा का कारण होती हैं, सभी भारतीय दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। जैन विचारक कहते हैं— "राग और द्वेष ये दोनों ही कर्म-परम्परा के बीज हैं और यही कर्म-परम्परा के कारण हैं।[३२] इसे भी सभी भारतीय आचार दर्शन स्वीकार करते हैं। गीता में कहा गया है— "हे अर्जुन! इच्छा (राग) और द्वेष के द्वन्द्व में मोह से आवृत होकर प्राणी इस संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।"[३३] तथागत बुद्ध कहते हैं— "जिसने राग-द्वेष और मोह को छोड़ दिया है, वही फिर माता के गर्भ में नहीं पड़ता।"[३४]

इस समग्र विवेचना को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं कि विविध इन्द्रियों एवं मन के द्वारा उनके विषयों के ग्रहण की चाह में वासना के प्रत्यय का निर्माण होता है। वासना का प्रत्यय पुनः अपने विधेयात्मक एवं निषेधात्मक पक्षों के रूप में सुख और दुःख की भावनाओं को जन्म देता है। यही सुख और दुःख की भावनाएँ राग और द्वेष की वृत्तियों का कारण बन जाती हैं। यही राग-द्वेष की वृत्तियाँ क्रोध, मान, माया, लोभादि विविध प्रकार के अनैतिक व्यापार का कारण होती हैं। लेकिन इन सबके मूल में तो ऐन्द्रिक एवं मनोजन्य व्यापार ही है, इसलिये साधारण रूप से यह माना गया कि नैतिक आचरण एवं नैतिक विकास के लिए इन्द्रिय और मन की वृत्तियों का निरोध कर दिया जए। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि इन्द्रियों पर काबू किये बिना रागद्वेष एवं कषायों पर विजय पाना सम्भव नहीं होता है।[३५] अत: अब इस सम्बन्ध में विचार करना इष्ट होगा कि क्या इन्द्रिय और मन के व्यापारों का निरोध सम्भव है और यदि निरोध सम्भव है तो उसका वास्तविक रूप क्या है?

इन्द्रिय निरोध : सम्भावना और सत्य

इन्द्रियों के विषय अपनी पूर्ति के प्रयास में किस प्रकार नैतिक पतन की ओर ले जाते हैं इसका सजीव चित्रण उत्तराध्ययनसूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में मिलता है। वहाँ कहा गया है— रूप को ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय है और रूप चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण होने योग्य है। प्रिय रूप राग का और अप्रिय रूप द्वेष का कारण है।[३६]

जिस प्रकार दृष्टि के राग में आतुर होकर पतंगा मृत्यु पाता है, उसी प्रकार रूप में अत्यन्त आसक्त होकर जीव अकाल में ही मृत्यु पाते हैं।[३७] रूप की आशा में पड़ा हुआ गुरुकर्मी, अज्ञानी जीव, त्रस और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, परिताप उत्पन्न करता है तथा पीड़ित करता है।[३८] रूप में मूर्च्छित जीव उन पदार्थों के उत्पादन, रक्षण एवं व्यय में और वियोग की चिन्ता में लगा रहता है। उसे सुख कहाँ है? वह संयोग काल में भी अतृप्त रहता है।[३९] रूप में आसक्त मनुष्य को थोड़ा भी सुख नहीं होता, जिस वस्तु की प्राप्ति में उसने दुःख उठाया, उसके उपयोग के समय भी वह दुःख पाता है।[४०]

श्रोत्रेन्द्रिय शब्द की ग्राहक और शब्द श्रोत्र का ग्राह्य है। प्रिय शब्द राग का और अप्रिय शब्द द्वेष का कारण है।[४१] जिस प्रकार राग में गृद्ध बना हुआ मृग मुग्ध होकर शब्द में सन्तोषित न होता हुआ मृत्यु पा लेता है, उसी प्रकार शब्दों के विषय में अत्यन्त मूर्च्छित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने वाला जीव अकाल में ही नष्ट हो जाता है।[४२] शब्द की आसक्ति में पड़ा हुआ भारी कर्मी जीव, अज्ञानी होकर त्रस और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, परिताप उत्पन्न करता है और पीड़ा देता है।[४३]

वह मनोहर शब्द वाले पदार्थों की प्राप्ति, रक्षण एवं व्यय में तथा वियोग की चिंता में लगा रहता है, उनके संभोग काल के समय में भी अतृप्त ही बना रहता है, फिर उसे सुख कहाँ है।[४४] तृष्णावश वह जीव चोरी, झूठ और कपट की वृद्धि करता हुआ अतृप्त ही रहता है, दुःख से नहीं छूट सकता।[४५]

नासिका गन्ध को ग्रहण करती है और गंध नासिका का ग्राह्य है। सुगन्ध राग का कारण है और दुर्गन्ध द्वेष का कारण है।[४६] जिस प्रकार सुगन्ध में मूर्च्छित हुआ सर्प बाँबी से बाहर निकलकर मारा जाता है, उसी प्रकार गन्ध में अत्यन्त आसक्त जीव अकाल में ही मृत्यु पा लेता है।[४७] सुगन्ध के वशीभूत होकर बालजीव अनेक प्रकार से त्रस और स्थावर जीवों का घात करता है, उन्हें दुःख देता है।[४८] वह जीव सुगन्धित पदार्थों की प्राप्ति, रक्षण, व्यय तथा वियोग की चिन्ता में ही लगा रहता है, अत: वह उनके भोगकाल में भी अतृप्त ही रहता है, फिर उसे सुख कहां[४९] है। जिह्वा रस को ग्रहण करती है और रस जिह्वा का ग्राह्य है। मनपसन्द रस राग का कारण और मन के प्रतिकूल रस द्वेष का कारण कहा गया है।[५०] जिस प्रकार मांस खाने के लालच में फँसा हुआ मच्छ काँटे में फँसकर मारा जाता है, उसी प्रकार रसों में अत्यन्त गृद्ध जीव अकाल में मृत्यु का ग्रास बन जाता है।[५१] उसे कुछ भी सुख नहीं होता, वह रसभोग के समय भी दुःख और क्लेश ही पाता है।[५२] इसी प्रकार अमनोज्ञ रसों में द्वेष करने वाला जीव भी दुःख परम्परा बढ़ाता है और कलुषित मन से कर्मों का उपार्जन करके उसके दुःखद फल को भोगता है।[५३]

शरीर स्पर्श को ग्रहण करता है और स्पर्श शरीर का ग्राह्य है। सुखद स्पर्श राग का तथा दुःखद स्पर्श द्वेष का कारण है।[५४] जो जीव सुखद स्पर्शों में अति आसक्त होता है, वह जंगल के तालाब के ठण्डे पानी में पड़े हुए मगर द्वारा ग्रसित भैंसे की तरह अकाल में ही मृत्यु पाता है।[५५] स्पर्श की आशा में पड़ा हुआ वह गुरुकर्मी जीव चराचर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, उन्हें दुःख देता है।[५६] सुखद स्पर्शों में मूर्च्छित हुआ प्राणी उन वस्तुओं की प्राप्ति, रक्षण, व्यय एवं वियोग की चिन्ता में ही घुला करता है। भोग के समय भी वह तृप्त नहीं होता फिर उसके लिए सुख कहाँ?[५७] स्पर्श में आसक्त जीवों को किंचित् भी सुख नहीं होता है। जिस वस्तु की प्राप्ति क्लेश एवं दुःख से हुई उसके भोग के समय भी कष्ट ही मिलता है।[५८]

आचार्य हेमचन्द्र भी योगशास्त्र में कहते हैं कि स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत होकर हाथी, रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर मछली, घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर भ्रमर, चक्षुरिन्द्रिय के वशीभूत होकर पतंगा और श्रवणेन्द्रिय के वशीभूत होकर हरिण मृत्यु का ग्रास बनता है। जब एक-एक इन्द्रिय के विषयों में आसक्ति मृत्यु का कारण बनती है, फिर भला पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन में आसक्त मनुष्य की क्या स्थिति होगी।[५९]

गीता में भी श्रीकृष्ण ने इन्द्रिय-दमन के सम्बन्ध में कहा है कि जिस प्रकार जल में वायु नाव को हर लेती है, वैसे ही मन सहित विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से एक ही इन्द्रिय इस पुरुष की बुद्धि को हरण कर लेने में समर्थ होती है। साधना में प्रयत्नशील बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं और उसे साधना से च्युत कर देती हैं। अत: सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके तथा समाहित चित्त होकर मन को मेरे में लगा। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ अपने अधिकार में हैं, वही प्रज्ञावान है। अन्यत्र पुन: कहा गया है कि साधक सबसे पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान के विनाश करने वाले इस काम का परित्याग करें।[६०]

धम्मपद में तथागत बुद्ध भी कहते हैं कि "जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में असंयत रहता है, उसे मार (काम) साधना से उसी प्रकार गिरा देता है, जिस प्रकार दुर्बल वृक्ष को हवा गिरा देती है। लेकिन जो इन्द्रियों के विषयों में सुसंयत रहता है, उसे मार (काम) उसी प्रकार साधना से विचलित नहीं कर सकता जैसे वायु पर्वत को विचलित नहीं कर सकता।"[६१]

जैन दर्शन और गीता में इन्द्रिय-दमन का वास्तविक अर्थ

प्रश्न यह है कि यदि इन्द्रिय-व्यापार बन्धन के कारण हैं तो फिर क्या इनका निरोध सम्भव है? यदि हम इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह पायेंगे कि जब तक जीव देह धारण किये है, उसके द्वारा इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध सम्भव नहीं है। कारण यह है कि वह एक ऐसे वातावरण में रहता है जहाँ उसे इन्द्रियों के विषयों से साक्षात् सम्पर्क रखना ही पड़ता है। आँख के समक्ष दृश्य-विषय प्रस्तुत होने पर वह उसके रूप और रंग के दर्शन से वंचित नहीं रह सकता, भोजन करते समय उसके रस को अस्वीकार नहीं कर सकता, किसी शब्द के उपस्थित होने पर कर्ण यन्त्र उसकी आवाज को सुने बिना नहीं रह सकता और ठीक इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियोंके विषय उपस्थित होने पर वह उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकता अर्थात् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध एक असम्भव तथ्य है। तथापि यह प्रश्न उठता है कि बन्धन से कैसे बचा जाय? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए जैन दर्शन कहता है कि बन्धन का कारण इन्द्रिय-व्यापार नहीं वरन् उनके मूल में निहित राग और द्वेष की वृत्तियाँ ही हैं। जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि इन्द्रियों और मन के विषय, रागी पुरुषों के लिए ही दुःख (बन्धन) के कारण होते हैं, ये विषय वीतरागियों के लिए बन्धन या दुःख का कारण नहीं हो सकते।[६२] कामभोग किसी को भी सम्मोहित नहीं कर सकते है, न किसी में विकार ही पैदा कर सकते है, किन्तु जो विषयों में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है।[६३]

गीता में भी इसी प्रकार निर्देश दिया गया है कि साधक इन्द्रिय के विषयों अर्थात् भोगों में उपस्थित जो राग और द्वेष हैं, उनके वश में नहीं हों, क्योंकि ये दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महान् शत्रु हैं।[६४] इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु राग निवृत्त नहीं होते। जबकि निर्वाण लाभ के लिए राग का निवृत्त होना परमावश्यक है।[६६]

वास्तविकता यह है कि निरोध इन्द्रिय-व्यापारों का नहीं वरन् उनमें निहित राग-द्वेष का करना होता है, क्योंकि बन्धन का वास्तविक कारण इन्द्रिय-व्यापार नहीं, वरन् राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ हैं। जैन दार्शनिक कहते हैं— इन्द्रियों के शब्दादि मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषयासक्त व्यक्ति के लिए ही राग-द्वेष के कारण होते हैं, वीतराग के लिये नहीं।[६७] गीता कहती है कि राग-द्वेष से विमुक्त व्यक्ति इन्द्रिय-व्यापारों को करता हुआ भी पवित्रता को ही प्राप्त होता है।[६८] इस प्रकार जैनदर्शन और गीता इन्द्रिय-व्यापारों के निरोध की बात नहीं कहते, वरन् इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग-द्वेष की वृत्तियों के निरोध की धारणा को प्रस्थापित करते हैं।

इसी प्रकार मनोनिरोध के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाएँ बना ली गई हैं, यहाँ हम उसका भी यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

इच्छानिरोध या मनोनिग्रह

भारतीय आचार दर्शन में इच्छानिरोध एवं वासनाओं के निग्रह का स्वर काफी मुखरित हुआ है। आचार दर्शन के अधिकांश विधि-निषेध इच्छाओं के दमन से सम्बन्धित हैं, क्योंकि इच्छाएँ तृप्ति चाहती हैं और इस प्रकार चित्त शान्ति या आध्यात्मिक समत्व का भंग हो जाता है। अत: यह माना गया कि समत्व के नैतिक आदर्श की उपलब्धि के लिए इच्छाओं का दमन कर दिया जाय। मन इच्छाओं एवं संकल्पों का उत्पादक है, अत: इच्छानिरोध का अर्थ मनोनिग्रह ही मान लिया गया। पतंजलि ने तो यहाँ तक कह दिया कि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। यह माना जाने लगा कि मन स्वयं ही समग्र क्लेशों का धाम है। उसमें जो भी वृत्तियाँ उठती हैं वे सभी बन्धनरूप हैं। अत: उन मनोव्यापारों का सर्वथा अवरोध कर देना ही निर्विकल्पक समाधि है, नैतिक जीवन का आदर्श है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों में इच्छानिरोध और मनोनिग्रह के प्रत्यय को स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है— "यह मन उस दुष्ट और भयंकर अश्व के समान है जो चारों दिशाओं में भागता है।"[६९] अत: साधक समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होने वाले इस मन का निग्रह करें।[७०] गीता में भी कहा गया है— "यह मन अत्यन्त ही चंचल, विक्षोभ उत्पन्न करने वाला और बड़ा बलवान है, इसका निरोध करना वायु के रोकने के समान अत्यन्त ही दुष्कर है।"[७१] फिर भी कृष्ण कहते हैं कि "निस्संदेह इस मन का कठिनता से निग्रह होता है, किन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसका निग्रह सम्भव है,"[७२] इसलिए हे अर्जुन! तू मन की वृत्तियों का निरोध कर इस मन को मेरे में लगा।[७३] बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में भी कहा गया है कि "यह चित्त अत्यन्त ही चंचल है, इस पर अधिकार कर, क्योंकि कुमार्ग से इसकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है, इसकी वृत्तियों का कठिनता से ही निवारण किया जा सकता है। अत: बुद्धिमान मनुष्य इसे ऐसे ही सीधा करे जैसे इषुकार (बाण बनाने वाला) बाण को सीधा करता है। यह चित्त कठिनता से निग्रहित होता है, अत्यन्त शीघ्रगामी और यथेच्छ विचरण करने वाला है इसलिए इसका दमन करना ही श्रेयस्कर है, दमित किया हुआ चित्त ही सुखवर्धक होता है।"[७४] जैन आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं, "आँधी की तरह चंचल मन मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक एवं तप करने वाले मनुष्य को भी कहीं का कहीं ले जाकर पटक देता है, अत: जो मनुष्य मुक्ति चाहते हों उन्हें समग्र विश्व में भटकने वाले लम्पट मन का निरोध करना चाहिए।"[७५]

मनोनिग्रहण के उपरोक्त सन्दर्भों के आधार पर भारतीय नैतिक चिन्तन पर यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि वह आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। आधुनिक मनोविज्ञान इच्छाओं के दमन एवं मनोनिग्रह को मानसिक समत्व का हेतु नहीं मानता, वरन् इसके ठीक विपरीत उसे चित्त विक्षोभ का कारण मानता है। दमन, निग्रह, निरोध आज की मनोवैज्ञानिक धारणा में मानसिक सन्तुलन के भंग करने वाले माने गये हैं। फ्रायड ने मनोविघटन एवं मनोविकृतियों का प्रमुख कारणदमन और प्रतिरोध को ही माना है। आधुनिक मनोविज्ञान की इस मान्यता को झुठलाया नहीं जा सकता कि इच्छानिरोध और मनोनिग्रहण मानसिक स्वास्थ्य के लिये अहितकर है। यही नहीं इच्छाओं के दमन में जितनी अधिक तीव्रता होती है वे दमित इच्छाएँ उतने ही वेग से विकृत रूप से प्रकट होकर न केवल अपनी पूर्ति का प्रयास करती हैं, वरन् व्यक्ति के व्यक्तित्व को भी विकृत बना देती हैं। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं तो फिर नैतिक जीवन से इस दमन की धारणा को ही समाप्त कर देना होगा। प्रश्न होता है कि क्या भारतीय नीति निर्माताओं की दृष्टि से यह तथ्य ओझल था? लेकिन बात ऐसी नहीं है जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन के निर्माताओं की दृष्टि में दमन के अनौचित्य की धारणा अत्यन्त स्पष्ट थी, जिसे सप्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि गहराई से देखें तो गीता स्पष्ट रूप से दमन या निग्रह के अनौचित्य को स्वीकार करती है। गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार ही व्यवहार करते हैं वे निग्रह कैसे कर सकते हैं।"[७६] योगवासिष्ठ में इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "हे राजर्षि! तीनों लोक में जितने भी प्राणी हैं स्वभाव से ही उनकी देह द्रयात्मक है। जब तक शरीर रहता है तब तक शरीरधर्म स्वभाव से ही अनिवार्य है अर्थात् प्राकृतिक वासना का दमन या निरोध नहीं होता।"[७७]

गीता कहती है कि यद्यपि विषयों को ग्रहण नहीं करने वाले अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषयों के उपभोग करने से रोक देने वाले व्यक्तियों के द्वारा विषयों के भोग का तो निग्रह हो जाता है, लेकिन उनका रस (आसक्ति) बना रहता है। अर्थात् वे मूलत: नष्ट नहीं हो पाते और अनुकूल परिस्थितियों में पुन: व्युत्थित हो जाते हैं। "रसवर्जरसोऽत्यस्य" का पद स्पष्ट रूप से यह संकेत करता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गीता में नैतिक विकास का वास्तविक मार्ग निग्रह का नहीं है। न केवल गीता के आचार दर्शन में दमन को अनुचित माना गया है, वरन् बौद्ध और जैन विचारणाओं में भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। बुद्ध के मध्यममार्ग के उपदेश का सार यही है कि आध्यात्मिक विकास के मार्ग में वासनाओं का दमन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना उनसे ऊपर उठ जाना। वासनाओं के दमन का मार्ग और वासनाओं के भोग का मार्ग दोनों ही बुद्ध की दृष्टि में साधना के सच्चे मार्ग नहीं हैं। तथागत बुद्ध ने जिस मध्यममार्ग का उपदेश दिया उसका स्पष्ट आशय यही था कि साधना में दमन पर जो अत्यधिक बल दिया जा रहा था उसे कम किया जाय। बौद्ध साधना का आदर्श तो चित्तशान्ति है, जबकि दमन तो चित्तक्षोभ या मानसिक द्वन्द्व को ही जन्म देता है। बौद्धाचार्य अनंगवज्र कहते हैं कि "चित्त-क्षुब्ध होने से कभी भी मुक्ति नहीं होती, अत: इस तरह बरतना चाहिए कि जिससे मानसिक क्षोभ उत्पन्न न हो।"[७८] दमन की प्रक्रिया चित्तक्षोभ की प्रक्रिया है, चित्तशान्ति की नहीं। बोधिचर्यावतार की भूमिका में लिखा है कि बुद्ध के धर्म में जहाँ दूसरे को पीड़ा पहुँचाना मना है वहाँ अपने को पीड़ा देना भी अनर्थ कर्म कहा गया है। सौगत तन्त्र ने आत्मपीड़ा के मार्ग को ठीक नहीं समझा। क्या दमन मात्र से चित्त-विक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा? दबायी हुई वृत्तियाँ जाग्रतावस्था में न सही स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होगीं।[७९] जब तक चित्त में भोग-लिप्सा है, तब तक चित्तक्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध विचारणा को दमन का प्रत्यय अभिप्रेत नहीं है। दमन के विरोध में उठ खड़ी बौद्ध विचारणा की चरम परिणति चाहे वामाचार के रूप में हुई हो, फिर भी उसके दमन के विरोध को अवास्तविक नहीं कहा जा सकता है। चित्तशान्ति के साधनामार्ग में दमन का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं हो सकता। जहाँ तक जैन विचारणा का प्रश्न है वह अपनी पारिभाषिक भाषा में स्पष्ट रूप से कहती है कि "साधना का सच्चा मार्ग उपशमिक नहीं वरन् क्षायिक है।"

जैन दृष्टिकोण के अनुसार औपशमिक मार्ग वह मार्ग है जिसमें मन की वृत्तियों, वासनाओं को दबाकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ा जाता है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग ही औपशमिक मार्ग है। जिस प्रकार आग को राख से ढक दिया जाता है उसी प्रकार उपशम में कर्म-संस्कार या वासना-संस्कार को दबाते हुए नैतिकता के मार्ग पर आगे बढ़ा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो यह दमन (Repression) का मार्ग है। साधना के क्षेत्र में वासना-संस्कार को दबाकर आगे बढ़ने का मार्ग दमन का मार्ग है, लेकिन यह मन:शुद्धि का वास्तविक मार्ग नहीं है, यह तो मानसिक गन्दगी को ढकना मात्र है, छिपाना मात्र है। जैन विचारकों ने गुणस्थान प्रकरण में बताया है कि यह वासनाओं को दबाकर आगे बढ़ने की अवस्था नैतिक विकास में आगे तक नहीं चलती है। जैन विचारणा यह मानती है कि ऐसा साधक पदच्युत हो जाता है। जिस दमन को आधुनिक मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के विकास में बाधक माना गया है, वही विचारणा जैन दर्शन में मौजूद थी। जैन दार्शनिकों ने भी दमन को विकास का सच्चा मार्ग नहीं माना। उन्होंने कहा— विकास का सच्चा मार्ग वासना-संस्कार को दबाना नहीं है अपितु उनका क्षय करना है। वास्तव में दमन का मार्ग स्वाभाविक नहीं है, वासनाओं या इच्छाओं के निरोध करने की अपेक्षा वे क्षीण हो जाएँ, यही अपेक्षित है। प्रश्न होता है कि वासनाओं के क्षय और निरोध में क्या अन्तर है।

निरोध में चित्त में वासना उठती है और फिर उसे दबाया जाता है, जबकि क्षय में वासना का उठना ही शनैः-शनैः कम होकर समाप्त हो जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में दमन की क्रिया में वासनात्मक अहं (Id) और आदर्शात्मक अहं (Super-ego) में संघर्ष चलता रहता है। लेकिन क्षय में यह संघर्ष नहीं होता है। वहाँ तो वासना उठती ही नहीं है। दमन या उपशम में हमें क्रोध का भाव आता है और हम उसे दबाते हैं या उसे अभिव्यक्त होने से रोकते हैं, जबकि क्षायिक भाव में क्रोधादि विकार समाप्त हो जाते हैं। उपशमन (दमन) में मन में क्रोध का भाव होता है, मात्र क्रोध-भाव का प्रगटीकरण नहीं होता जिसे साधारण भाषा में गुस्सा पी जाना कहते हैं। उपशम भी गुस्से का पी जाना ही है। इसमें लोकमर्यादा आदि बाह्य तत्त्व ही उसके निरोध का कारण बनते हैं। इसलिए यह आत्मिक विकास नहीं है, अपितु उसका ढोंग है, एक आरोपित आवरण है। क्षायिक भाव में क्रोध उत्पन्न ही नहीं होता है। साधारण भाषा में हम कहते हैं कि ऐसे साधक को गुस्सा आता ही नहीं है, अत: यही विकास का सच्चा मार्ग है। जैन विचारणा के अनुसार यदि कोई साधक नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति करता है तो वह पूर्णता के अपने लक्ष्य के अत्यधिक निकट पहुँच कर भी पुन: पतित हो जाता है। जैन विचारणा की परिभाषिक शब्दावली में कहें तो उपशम मार्ग का साधक आध्यात्मिक पूर्णता के चौदह गुणस्थान (सीढ़ियों) में से ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँच कर कभी-कभी वहाँ से ऐसा गिरता है कि पुन: निम्नतम अवस्था प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है।[८०] यह तथ्य जैन साधना में दमन की परम्परा का क्या अनौचित्य है इसे स्पष्ट कर देता है। यहाँ पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि आगम ग्रन्थों में मन के निरोध का उपदेश अनेक स्थानों पर दिया गया है, वहाँ निरोध का क्या अर्थ है? वहाँ पर निरोध का अर्थ दमन नहीं लगाना चाहिए अन्यथा औपशमिक और क्षायिक दृष्टियों का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। अत: वहाँ निरोध का अर्थ क्षायिक दृष्टि से ही करना समुचित है। प्रश्न होता है कि क्षायिक दृष्टि से मन का शुद्धीकरण कैसे किया जाय?

उत्तराध्ययनसूत्र में मन के निग्रह के सम्बन्ध में जो रूपक प्रस्तुत किया गया है उसमें श्रमणकेशी गौतम से पूछते हैं— आप एक दुष्ट भयानक अश्व पर सवार हैं, जो बड़ी तीव्र गति से भागता है, वह आपको उन्मार्ग की ओर न ले जाकर सन्मार्ग पर कैसे ले जाता है?

गौतम ने इस लाक्षणिक चर्चा को स्पष्ट करते हुए बताया है— "यह मन ही साहसिक, दुष्ट एवं भयंकर अश्व है, जो चारों ओर भागता है। मैं उसका जातिवान अश्व की तरह श्रुतरूपी रस्सियों से बाँधकर समत्व एवं धर्म-शिक्षा से निग्रह करता हूँ।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस श्लोक के प्रसंग में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं— सम्मे तथा धम्मसिक्खाये। धर्म-शिक्षण द्वारा मन को निग्रह करने का अर्थ दमन नहीं है वरन् उनका उदात्तीकरण है। धर्म-शिक्षण का अर्थ— मन को सद्प्रवृत्तियों में संलग्न कर देना ताकि वह अनर्थ मार्ग पर जाए ही नहीं। ऐसे ही श्रुत रूप रस्सी से बाँधने का अर्थ है— विवेक एवं ज्ञान के द्वारा उसे ठीक ओर चलाना (यह समत्व के अर्थ में है)। समत्व के द्वारा निग्रहण का अर्थ भी दमन नहीं है, वरन् मनोदशा को समभाव से युक्त बनाना है। मन का समत्व दमन में तो सम्भव ही नहीं होता, क्योंकि वह तो संघर्ष की अवस्था है। जब तक वासनाओं और नैतिक आदर्श का संघर्ष है तब तक समत्व हो ही नहीं सकता। जैन साधना पद्धति तो समत्व (समभाव) की साधना है। वासनाओं के दमन का मार्ग तो चित्त-क्षोभ उत्पन्न करता है, अत: वह उसे स्वीकार्य नहीं है। जैन साधना का आदर्श क्षायिक साधना है जिसमें वासना-दमन नहीं, वरन् वासनाशून्यता ही साधना का लक्ष्य है। गीता में भी मन के निग्रह का जो उपाय बताया गया है वह है— वैराग्य और अभ्यास। वैराग्य मनोवृत्तियों अथवा वासनाओं का दमन नहीं है, अपितु भोगों के प्रति एक अनासक्त वृत्ति है। तटस्थ वृत्ति या उदासीन वृत्ति दमन से बिलकुल भिन्न है, वह तो भोगों के प्रति राग-भाव की अनुपस्थिति है। दूसरी ओर अभ्यास शब्द भी दमन का समर्थक नहीं है। यदि गीताकार को दमन ही इष्ट होता तो वह अभ्यास की बात नहीं कहता। दमन में अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि यदि दमन ही करना हो तो फिर अभ्यास किसलिये? अभ्यास होता है विलयन, परिष्कार या उदात्तीकरण के लिए। वस्तुत: साधना का लक्ष्य वासना या चैतसिक आवेगों का विलयन (समाप्ति) होता है न कि उनका दमन, क्योंकि जब तक दमन है तब तक चित-विक्षोभ है। किन्तु साधना का लक्ष्य तो समाधि है। समाधि वासनाओं के दमन से नहीं, अपितु उनके विलयन से फलित होती है।दमन में वासना रहती है अत: उसमें चित्त-विक्षोभ भी रहता है। जबकि विलयन में वासना ही समाप्त हो जाती है अत: वह चित्त की शान्त अवस्था है। यही चित्त की शान्त एवं निर्विकल्पक अवस्था सम्पूर्ण साधना-पद्धतियों का लक्ष्य है। यही समाधि है, वीतरागता है।

वासनाक्षय या मनोजय का सम्यग्मार्ग

चित्तवृत्तियों या वासनाओं का विलयन (वासनाशून्यता) कैसे हो? इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में एक समुचित मार्ग प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि, "मन जिन-जिन विषयों में प्रवृत्त होता है, उनसे उसे बलात् रोकना नहीं चाहिए, क्योंकि बलात् रोकने से वह उस ओर अधिक दौड़ने लगता है और न रोकने से शान्त हो जाता है। जैसे मदोन्मत्त हाथी को रोका जाये तो वह और अधिक प्रेरित होता है, अगर उसे नहीं रोका जाये तो वह इष्ट विषय प्राप्त करके शान्त हो जाता है। यही स्थिति मन की है।" साधक अपने विषयों को ग्रहण करते हुए इन्द्रियों को न तो रोके और न प्रवृत्त करे, अपितु इतना सजग (अप्रमत्त) रहे कि उनके कारण मन में राग-द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न न हों। वह किंचित् भी संकल्प-विकल्प नहीं करे, क्योंकि चित्त संकल्पों से व्याकुल होता है। सभी चित्त-विक्षोभ संकल्पजन्य है। अत: संकल्पयुक्त चित्त में स्थिरता नहीं आ सकती है।[८१] वस्तुत: यहाँ आचार्य का मन्तव्य यह है कि चित्त को शान्त करने के लिये उसे संकल्प से मुक्त करना होगा और इस हेतु ज्ञाता, द्रष्टा या साक्षी बनाना होगा। जब चित्त या मन द्रष्टा, साक्षी और अप्रमत्त होगा तो स्वाभाविक रूप से वह वासनाओं एवं विक्षोभों से मुक्त हो जाएगा। चित्त-विक्षोभ केवल प्रमत्तदशा में रह सकता है, अप्रमत्तदशा में नहीं। यह बात आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य है। जब मन स्वयं अपनी वृत्तियों का द्रष्टा बनेगा तो वह उनका कर्त्ता नहीं रह जाएगा, क्योंकि एक ही मन एक ही समय में द्रष्टा और कर्त्ता दोनों नहीं हो सकता। जिस समय वह द्रष्टाभाव में होगा उसी समय उसमें कर्त्ताभाव नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए जब हम क्रोध करते हैं, उस समय अपनी क्रोध की अवस्था को जानते नहीं हैं और जब अपनी क्रोध की अवस्था को जानने का प्रयास करते हैं तो क्रोध शान्त होने लगता है। मनोविज्ञान का यह नियम है कि जब विवेक जाग्रत होगा तो वासना क्षीण होगी और जब वासना जाग्रत होगी तो विवेक क्षीण होगा। अत: साधना में आवश्यकता होती है विवेक को जाग्रत बनाये रखने की। वासना-क्षय का सम्यग्मार्ग वासनाओं का दमन नहीं, अपितु विवेक को जाग्रत करना है। साधक को अपनी शक्ति वासनाओं से संघर्ष करने में नहीं, अपितु विवेक को जाग्रत करने में लगानी चाहिए। वस्तुत: मन में जब विवेक का प्रकाश होता है तो वासना उसमें प्रवेश नहीं कर पाती, जैसे— जब घर का मालिक जागता है तो चोर घर में प्रवेश नहीं करता, वैसे ही जब मन अप्रमत्त या जाग्रत रहता है तो वासनाएँ स्वयं विलुप्त हो जाती हैं।

मन की विभिन्न अवस्थायें

वासना से विवेक की ओर, प्रमत्तता से अप्रमत्तता की ओर— मन की यह यात्रा अनेक सोपानों से होती है। जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा में इस सम्बन्ध में समानान्तर रूप से इन सोपानों का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में मन की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है—

१. विक्षिप्त मन— यह मन की विषयासक्त और संकल्प-विकल्पयुक्त विक्षुब्ध अवस्था है। इसे प्रमत्तता की अवस्था भी कह सकते हैं।

२. यातायात मन— मन इस अवस्था में कभी बहिर्मुखी हो विषय की ओर दौड़ता है, तो कभी अन्तर्मुखी हो द्रष्टा या साक्षी बनने का प्रयास करता है। साधना की प्रारम्भिक स्थिति में मन की यह अवस्था रहती है। यह प्रमत्ताप्रमत्त अवस्था है।

३. श्लिष्ट मन— यह चित्त की अप्रमत्त अवस्था है। यहाँ चित्त निर्विषय तो नहीं होता, किन्तु उसके विषय शुभ-भाव होते हैं। यह अशुभ मनोभावों की विलय की अवस्था है, अत: इसे आनन्दमय अवस्था भी कहा गया है।

४. सुलीन मन— यहाँ चित्तवृत्तियों का पूर्ण विलयन हो जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और चित्त शुभ-अशुभ दोनों से ऊपर उठ जाता है। यह उसकी शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा अवस्था है, इसे परमानन्द या समाधि की अवस्था भी कहा जा सकता है।

जैन परम्परा के अनुरूप बौद्ध और हिन्दू परम्पराओं में भी मनोभूमियों का उल्लेख उपलब्ध है। बौद्ध दर्शन में जैन दर्शन के समान ही चित्त की १. कामावचर, २. रूपावचर, ३. अरूपावचर और ४. लोकोत्तर— इन चार अवस्थाओं का उल्लेख है जो कि क्रमशः विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन के समतुल्य है। योग दर्शन में मन की निम्न पाँच अवस्थाओं का उल्लेख है— १. क्षिप्त, २. मूढ़, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध। इसमें भी यदि हम क्षिप्त और मूढ़ चित्त को एक ही वर्ग में रखें, तो तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ भी जैन दर्शन से समानता ही परिलक्षित होती है। जिसे निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है—

जैन दर्शन	**बौद्ध दर्शन**	**योग दर्शन**
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एवं मूढ़
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

जैन दर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्ध-दर्शन का कामावचर चित्त और योग दर्शन के क्षिप्त एवं मूढ़ चित्त समानार्थक हैं, क्योंकि सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में वासनाओं की बहुलता तथा विकलता रहती है। इसी प्रकार यातायात मन, रूपावचर चित्त और विक्षिप्त चित्त भी समानार्थक ही हैं, क्योंकि सभी ने इसे चित्त की अल्पकालिक, प्रयाससाध्य स्थिरता की अवस्था माना है। यहाँ वासनाओं का वेग तथा चित्त विक्षोभ तो बना रहता है, किन्तु उसमें कुछ मन्दता अवश्य आ जाती है। तीसरे स्तर पर जैन दर्शन का श्लिष्ट मन, बौद्ध दर्शन का अरूपावचर चित्त और योग-दर्शन का एकाग्रचित्त भी समकक्ष है, क्योंकि इसे सभी ने मन की स्थिरता और अप्रमत्तता की अवस्था माना है। चित्त की अन्तिम अवस्था, जिसे जैन दर्शन में सुलीन मन, बौद्ध दर्शन में लोकोत्तर चित्त और योग दर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है, स्वरूप की दृष्टि से समान ही है, क्योंकि इसमें सभी ने वासना-संस्कार एवं संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव माना है।

वस्तुतः सभी साधना पद्धतियों का चरम लक्ष्य मन की उस वासनाशून्य, निर्विकार, निर्विचार एवं अप्रमत्तदशा को प्राप्त करना है, जिसे सभी ने समाधि के सामान्य नाम से अभिहित किया है। साधना है— वासना से विवेक की ओर, प्रमत्तता से अप्रमत्ता की ओर तथा चित्त-क्षोभ से चित्त-शान्ति की ओर प्रगति। मन का यह स्वरूप विश्लेषण हमें इस दिशा में निर्देशित कर सकता है किन्तु प्रयास तो स्वयं ही करने होंगे। साधन केवल स्व-प्रयासों से ही फलवती होती है।

सन्दर्भ

१. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० साध्वी चन्दना, प्रका०, वीरायतन प्रकाशन, आगरा १९७२, २९/५६।
२. योगशास्त्र (हेमचन्द्र), संपा०, मुनि समदर्शी, प्रका०, श्री ऋषभचन्द्र जौहरी, किशन लाल जैन, दिल्ली १९६३, ४/३८।
३. धम्मपद, अनु०, राहुल सांकृत्यायन, प्रका०, बुद्ध विहार लखनऊ, १।
४. वही, वर्ग २।
५. वही, वर्ग ४३।
६. वही, वर्ग ३७।
७. चित्तं वर्तते चित्तं, चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तंहि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते।।
— लंकावतारसूत्र, संपा०, श्री परशुराम शर्मा, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा १९६३, १४५।
८. ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्, अष्टोतर शतोपनिषद, संपा०, वासुदेव शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३२, २।
९. गीता, संपा०, स्वामी प्रभुपाद, प्रका०, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, बम्बई १९९३, ३/४०।
१०. वही, ६/२७
११. वही, ३/४०
१२. वही, ३/४०
१३. देखिये—दर्शन और चिन्तन, पं०सुखलालजी, प्रका० गुजरात, विद्या सभा, अहमदाबाद १९५७, भाग १, पृ० १४० तथा भाग २, पृ० ३११।
१४. मनश्चैव जडं मन्य—योगवासिष्ठ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१८, निर्वाण प्रकरण, सर्ग ७८/२१।
१५. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।
— गीता, संपा०, स्वामी प्रभुपाद, प्रका०, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, बम्बई १९९३, ७/४।
१६. मनः द्विविधः—द्रव्यमनः भावमनः च।
१७. राधाकृष्णन—भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली १९६६, भाग १।
१८. The Jaina's have given a modified parallelism with reference to psychic activity as determined by the Karmic matter -- They presented a sort of psycho-physical parallelism concerning individual mind & bodies yet they were not unaware of interaction between the mental and bodily activity -- Jiana's do not speak merely interms of pre-established harmony their theory transcends parallelism and postulates a more intimate connection between body and mind their motion of the structure of the mind and functional aspects of the mind shows that they were aware of the significance of interaction. Jaina theory was an attempt at the integration of metaphysical dichotomy of Jiva and Ajiva and the establishment of the interaction of individual mind and body.
-- Some Problems of Jaina Psychology, University of Karntaka, Dharwar, 1961, Page 29.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. विशद तुलनात्मक विवेचना के लिये देखिये—दर्शन और चिन्तन, पं० सुखलालजी, प्रका०, गुजरात विद्या सभा अहमदाबाद, १९५७, भाग १, पृ० १३४-१३५।
२०. विशद विवेचना के लिए देखिए— विशुद्धिमग्गो, अनु० भिक्षुधर्मरक्षित, प्रका०, महाबोधि सभा, बनारस १९५६-५७, भाग २, पृ० १०३-१२८ (हिन्दी अनुवाद)।
२१. गीता, संपा०, स्वामी प्रभुपाद, प्रका०, भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, बम्बई १९९३, १५/९।
२२. सद्दे रुवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए।।
—उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०, साध्वी चन्दना, प्रका०, वीरायतन प्रकाशन, आगरा १९७२, १६/१०।
२३. जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होई केवलिणो।
केवलिणाणी तम्हा तेण दु सोऽबन्धगो भणिदो।।
परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणीस्स ण हि बन्धो।।
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
ईहारहयं वयणं तम्हा णाणीस्स ण हि बन्धो।।
ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होई केवलिणो।
तम्हा ण होई बन्धो साक्ट्ठं मोहसणीयस्स।।
— नियमसार, अनु०, पं० परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, प्रका० सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, श्री कुन्दकुन्द महान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट जयपुर १९८८ ई०, १७१, १७२, १७३, १७४।
टिप्पणी— ईहा शब्द विमर्शात्मक संकल्प की अपेक्षा विमर्शरहित "वासना" के अधिक निकट है।
२४. गणधरवाद, प्रका०, भैरोंदान जेठमल सेठिया, बीकानेर वी०सं०, २४५८, वायुभूति से चर्चा।
२५. परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभू स्तस्मात्पराङ्पश्चति नान्तरात्मन् कठ० २/१/१।
२६. सव्वे सुहसाया दुक्खपडिकूला—आचारांगसूत्र, संपा०, मधुकरमुनि, प्रका०, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८०, १/२/२।
२७. इन्द्रिय मनोनुकूलायाम्प्रवृत्तो।
—अभिधानराजेन्द्रकोश, श्री विजयराजेन्द्रसूरि, रतलाम, खण्ड २, पृ० ५७५।
२८. लाभस्यार्थस्याभिलाषातिरेके—वही, पृ० ५७५
२९. रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्सं हेउं अमणुन्नमाहु—उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०, साध्वी चन्दना, प्रका०, वीरायतन प्रकाशन, आगरा १९७२, ३२/२३।
तुलना कीजिये: राग की उत्पत्ति के दो हेतु हैं—१. शुभ (अनुकूल) करके देखना,
२. अनुचित विचार। द्वेष की उत्पति के दो हेतु हैं—१. प्रतिकूल करके देखना तथा २. अनुचित विचार।
— अंगुत्तर निकाय, अनु०, भदन्त आनन्द कोसल्यायन, प्रका०, महाबोधि सभा, कलकत्ता दूसरा निपात, ११/६-७।
३०. तओ से जायंति पओयणाइं, निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा, तप्पच्चयं उज्जमए य रागी।।
कोहं च माणं च तहेव मायं, लोहं दुगुंछं अरइं रइं च।
हासं भंय सोगपुमित्थिवेयं, नपुंसवेयं विविहे य भावे।।
आवज्जई एयमणेगरूवे एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे कारूण्णदीणे हिरिमे वइस्से।।
—उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०, साध्वी चन्दना, प्रका०, वीरायतन प्रकाशन, आगरा १९७२, ३२/१०५,१०२,१०३।
३१. ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधाऽभिजायते।।
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।
—गीता, संपा०, स्वामी प्रभुपाद, प्रका०, भक्ति वेदान्त ट्रस्ट, बम्बई १९९३, २/६२-६३।
३२. रागो या दोसो वि य कम्मबीयं-कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं दुक्खं च जाईमरणं वयंति।।
—उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०, साध्वी चन्दना, प्रका०, वीरायतन प्रकाशन, आगरा १९७२, ३२/७।
३३. इच्छा-द्वेष-समुत्थेन द्वन्दमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।।
—गीता, संपा०, स्वामी प्रभुपाद, प्रका० भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, बम्बई १९९३, ७/२७।
३४. संयुत्तनिकाय, नन्दन वर्ग, पृ० १२
३५. विनेन्द्रियजयं नैव कषायान् जेतुमीश्वरः। —योगशास्त्र, संपा०, मुनि समदर्शी, प्रका० श्री ऋषभचन्द जौहरी किशन लाल जैन, दिल्ली १९६३, ४/२४।
३६. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०, साध्वी चन्दना, प्रका०, वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२ ३२/२३।
३७. वही, ३२/२४
३८. वही, ३२/२७
३९. वही, ३२/२८
४०. वही, ३२/३२
४१. वही, ३२/३६
४२. वही, ३२/३७
४३. वही, ३२/४०
४४. वही, ३२/४१
४५. वही, ३२/४३
४६. वही, ३२/४९
४७. वही, ३२/५०
४८. वही, ३२/५३
४९. वही, ३२/५४
५०. वही, ३२/६२
५१. वही, ३२/६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५२. वही, ३२/७१
५३. वही, ३२/७२
५४. वही, ३२/७५
५५. वही, ३२/७६
५६. वही, ३२/७९
५७. वही, ३२/८०
५८. वही, ३२/८४
५९. योगशास्त्र (हेमचन्द्र) संपा०, मुनि समदर्शी, प्रका०, श्री ऋषभचन्द जौहरी किशन लाल जैन, दिल्ली १९६३, ४/२८-३३।
६०. गीता, संपा०, स्वामी प्रभुपाद, प्रका०, भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, बम्बई १९९३, २/६०-६७, ३/४१।
६१. धम्मपद, अनु०, राहुल सांकृत्यायन, प्रका०, बुद्ध बिहार, लखनऊ १/७-८।
६२. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०, साध्वी चन्दना, प्रका०, वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२, ३२/१००।
६३. वही, ३२/१०१।
६४. गीता, ३/४३
६५. गीता, ३/६
६६. गीता, २/५९
६७. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२/१०९
६८. गीता, संपा०, स्वामी प्रभुपाद, प्रका०, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, बम्बई १९९३, २/६४।
६९. मणो साहसिओ भीमो दुट्ठसो परिधावई।
—उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०, साध्वी चन्दना, प्रका०, वीरायतन प्रकाशन, आगरा १९७२, २३/५८
७०. संरम्भ-समारम्भे आरम्भे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणां तु नियत्तिज्ज जयं जई।।
—उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०, साध्वी चन्दना, प्रका०, वीरायतन प्रकाशन, आगरा १९७२, २४/११
७१. गीता, संपा०, स्वामी प्रभुपाद, प्रका०, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, बम्बई १९९३, ६/३४।
७२. वही, ६/३५।
७३. मन:संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर: ।—वही, ६/१४।
७४. धम्मपद, (चित्तवर्ग), अनु०, राहुलसांकृत्यायन, बुद्ध विहार, लखनऊ, ३३-३५।
७५. योगशास्त्र (हेमचन्द्र), ३६-३९।
७६. प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह: किं करिष्यति।
—गीता, संपा०, स्वामी प्रभुपाद, प्रका०, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, बम्बई, १९९३, ३/३३।
७७. सर्वाव्स्या एवं राजर्षि! भूतजातैर्जगत्त्रये।
देवादेवारपि देहोज्ञयं द्वयात्मैव स्वभावत:।
अज्ञमस्वथ तज्ज्ञं वा यावत्स्वान्तं शरीरकर्म।।
—योगवासिष्ठ, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१८, १०५/१०९।
७८. तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मन:।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन।।
प्रज्ञोपायविनिश्चय, ५/४० (उद्धृत बोधिचर्यावतार, भूमिका), पृ० २०।
७९. बोधिचर्यावतार, भूमिका, पृ० २०
८०. विशेष जानकारी के लिये देखिये—गुणस्थानारोहण।
८१. योगशास्त्र, संपा०, मुनि समदर्शी, प्रका०, श्री ऋषभचन्द्र जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली १९६३, १२/३३-३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org